यू.जी.सी. आशीश कार्यक्रम, दर्शन विभाग पुस्तक श्रृंखला - 1

भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएं

प्रो. दया कृष्ण

सम्पादक

डॉ. (श्रीमती) योगेश गुप्ता

यू.जी.सी. आशीश प्रोग्राम, दर्शन विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय

व

लिट्रेरी सर्किल, जयपुर

प्रधान सम्पादक : डॉ. (श्रीमती) योगेश गुप्ता
समन्वयक : यूजीसी आशीश कार्यक्रम, एवं
अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-302004

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के आशीश कार्यक्रम के अन्तर्गत दर्शन विभाग के द्वारा लिट्रेरी सर्किल के साथ संयुक्त रूप से 2006 में प्रकाशित ग्रंथ

© सर्वाधिकार दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ISBN - 81-8182-035-5

प्रकाशक
यू.जी.सी. आशीश प्रोग्राम, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय
व
लिट्रेरी सर्किल, जयपुर
सी-12-13, प्रथम तल,
खण्डेलवाल गर्ल्स कॉलेज के सामने,
संसार चन्द्र रोड़, जयपुर-302001
email : literarycirclejpr@yahoo.com

विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर द्वारा सङ्गणक अङ्कित

मुद्रक : **शीतल प्रिन्टर्स**

सम्पादकीय

परम्परा से उऋण होने का एक तरीका न केवल परम्परा को उसके वैविध्य में जानने से है वरन यह देखने में भी है कि किस प्रकार उसके मूल विचार का संरक्षण व संवर्धन कर उसकी दृष्टि का विस्तार किया जाए। प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय व पाश्चात्य दार्शनिक परम्पराएं' का प्रकाशन, जो प्रो. दया कृष्ण जी के हिन्दी में लिखे गये लेखों का संग्रह है, इसी विचार की आंशिक अभिव्यक्ति है। लेख संग्रह के वे लेख जो 80 के दशक एवं उससे पूर्व में लिखे गये हैं, उनके सेवाकाल में उनकी वैचारिक गतियुक्तता के साथ विभाग की गतियुक्तता का भी चित्रण करते हैं जिसमें विशेष रूप से प्रो. दया कृष्ण जी द्वारा संचालित बुधवार गोष्ठियाँ उल्लेखनीय हैं। दयाजी विभाग में न केवल सामूहिक वैचारिकता (दार्शनिक विचार-विमर्श) के जनक एवं प्रेरणास्रोत रहे हैं वरन वैचारिक उदारता के भी उदाहरण रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन हेतु दी गई उनकी स्वीकृति उनके इसी व्यक्तित्व तथा विभाग के प्रति उनके स्नेह की भी अभिव्यक्ति है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय को वित्तीय वर्ष 2004 में यू.जी.सी. के दशम योजनान्तर्गत में प्राप्त त्रिवर्षीय (2004-2007) सहायता कार्यक्रम आशीष Assistance for Strengthening of Infrastructure for Humanities and Social Sciences under ASIHSS Programme के प्रकाशन मद के तहत, वर्ष 2005-06 की स्वीकृत धनराशि से किया गया। यू.जी.सी. का यह कार्यक्रम दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय को तत्कालीन विभागाध्यक्ष प्रो. वी.एस. शेखावत, (सेवानिवृत) के कार्यकाल में स्वीकृत किया गया था। इस वित्तीय सहायता का एक प्रमुख उद्देश्य इस विषय के विद्यार्थियों एवं शोध छात्रों को पाठ्य एवं शोध सहायक सामग्री रूपी वैचारिक आधारभूत सुविधाओं को प्रदान करना एवं सुदृढ करना है। यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि यू.जी.सी. के आशिष (ASIHSS) कार्यक्रम में प्रकाशन मद के तहत प्राप्त धनराशि से किया जाने वाला विभाग का यह **प्रथम प्रकाशन** प्रो. दया कृष्ण के प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेखों के संग्रह से हो रहा है। संग्रहित लेखों में अनुस्यूत अधिकांश केन्द्रीय सम्प्रत्यय एवं प्रश्न, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के नवीन एवं पारम्परिक विषयों से सम्बन्धित शोध विषयों तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के चयनित एवं अनिवार्य पत्रों में प्रस्तावित एवं अनुशंसित पाठ्य सामग्री से सम्बन्धित है। प्रोज दयाकृष्ण जी के लेखों को जिनमें कुछ पूर्व प्रकाशित हैं एवं कुछ अप्रकाशित हैं, विद्यार्थियों की सुविधा हेतु एक जगह प्रस्तुत कर पुस्तक के आकार के रूप में प्रकाशित किया गया है। पुस्तक में संग्रहित लेखों को मोटे रूप से निम्न चार खंडों में विभाजित किया गया है इनमें कुछ ऐसे लेख हैं जो एक से अधिक खंडों में भी वर्गीकृत किये जा सकते हैं।

प्रथम खंड में मूलत: संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्यों में विशेषकर बौद्धिक दार्शनिक परम्पराओं के सन्दर्भ में उनके विचारों का दिग्दर्शन कराने वाले लेख संग्रहित हैं। द्वितीय खंड में भारतीय दर्शन से सम्बन्धित लेखों का संग्रह है। तृतीय खंड में पाश्चात्य दर्शन परम्परा से सम्बन्धित लेख हैं एवं अन्तिम खंड में दार्शनिक विचार के स्वरूप के साथ साहित्य, कला एवं समाज आदि से सम्बन्धित लेखों को संग्रहित किया गया है।

प्रथम खंड का प्रथम लेख 'तीसरी सहस्राब्दी में भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : रक्षण, पुनर्नवीनीकरण और विकास की नई दिशाएँ' का विचार जहाँ एक ओर ईसा बाद की सहस्राब्दियों से लेकर ईसा पूर्व की सहस्राब्दियों की अ-पाश्चात्य संस्कृतियों के स्मृति भ्रंशों एवं औपनिवेशिक पाश्चात्य संस्कृति के स्वयं को सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली मानसिक संकीर्णता को इंगित करता है वहीं वह मेरी दृष्टि में समाजों के शताब्दियों एवं संस्थाओं में व्यक्ति के दशाब्दियों के कार्यकालों के व्यवहारों के मूल्यांकन का एक समानान्तर प्रारूप भी प्रदान करता है। लेख का एक अन्य विचार पाँच सहस्राब्दियों से चली आयी भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के ज्ञानात्मक अतीत के पुनरावलोकन की अनिवार्यता को भी दर्शाता है जहाँ ईसा के बाद के काल को 'कॉमन एरा' बनाये जाने की प्रकृति के प्रति लेखक द्वारा पाठकों के लिये जागरूकता के संकेत का आग्रह किया गया है। इस सन्दर्भ में दयाजी ने ईसा पूर्व सहस्राब्दियों में उपलब्ध रहे भारतीय वैदिक चिन्तन में हुये खगोलीय पर्यवेक्षणों, गणितीय कलनों एवं वेदांग-उपवेदों के साथ ही कवि कर्म की महत्ता की उपलब्ध प्रचुरता को जहाँ दर्शाया है वहीं उपनिषद् काल में श्रद्धा में सत्य की आहूति की अप्रतिम लौकिक व्याख्या प्रस्तुत की है। दयाजी की इस लौकिक व्याख्या की आंशिक छाया मेरी दृष्टि में न केवल पाश्चात्य दर्शन की आधुनिक एवं अतिआधुनिकतावादी दृष्टियों में वरन उपनिषदों के अतिरिक्त बौद्धादि नागार्जुन की एक दृष्टि विशेष में भी देखी जा सकती है।

ईसा पूर्व सहस्राब्दियों में भारतीय बौद्धिक वैभव के स्मृति भ्रंशों का एक प्रमुख कारण दयाजी के विचार में अंग्रेजों द्वारा आरोपित शिक्षा पद्धति है। भारतीय वैचारिक एवं राजनीतिक इतिहास की सम्पूर्ण प्रमुख वैचारिक घटनाओं पर व्यापक दृष्टि देते हुये इस लेख में दयाजी ने न केवल ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दि के उत्तरार्ध तथा ईसा पश्चात् प्रथम सहस्राब्दी के इतिहास-पुनर्लेखन की औचित्यता बताई है वरन इतिहास लेखन में इतिहासकारों की दृष्टि की, चाहे वह भारतीय हो या पाश्चात्य, विकलांगता एवं पूर्वाग्रहिता का उदाहरण सहित विवेचन भी किया है। उनके विचार में जहाँ एक ओर पश्चिमी सभ्यता जो अपनी उपनिवेशवादी संस्कृति से युक्त है का इतिहास लेखन, जो दर्शन, विज्ञान, कला एवं संस्कृति के योगदान पर पश्चिम का ही वर्चस्व मानती है, एक दिग्भ्रमित पाश्चात्य लेखन है तो दूसरी ओर औपनिवेशिक वेदान्त से अभिभूत भारतीय इतिहास लेखन एक पूर्वाग्रहरूपी विकलांगता है जो अवैदिकों के

प्रति एवं उत्तरी भारतीय मुगल शासकों के स्थापत्य, संगीत, व्यापार आदि के विचार के प्रति तथा समस्त दक्षिणी राज्यों की प्रभुता व वर्चस्वता के प्रति उपेक्षात्मक वृत्ति में अभिव्यक्त होती है।

प्रो. दया कृष्णजी के मत में शोध की आदर्शात्मक स्थिति विचार, विचारक या परम्परा के बौद्धिक जीवन के साक्षात् अंग बन कर उसका पुनर्नवीनीकरण करने में है उनके शब्दों में, ''इसका तात्पर्य यही है कि उसका अनवरत, आलोचना-प्रवण अनुशीलन होता रहे, वे हमारे जीवन्त संवाद में शामिल हों और हमारे जीवन्त अनुभव की रोशनी में परखी जाती रहें, संशोधित एवं परिमार्जित की जाती रहें। साथ ही जिन दिशाओं में विकास हमें अभीष्ट है, उनके सन्दर्भ में भी वे हमारे जीते-जागते सरोकार बनें।'' (पृष्ठ 12) स्पष्ट रूप में बौद्धिक परम्परा के प्रति दयाजी की यह भविष्योन्मुखी दृष्टि उनके मत में दार्शनिक या विचार के बौद्धिक पुरुषार्थ का एक नया आयाम खोलती है जो कि कर्म, ज्ञान एवं भाव रूपी त्रिविधता को समाहित किये हुये है; जहाँ संस्कृति की विरासतता की सही समझ में उसका ज्ञानात्मक आयाम, उसके साथ जीवंत क्रिया-प्रतिक्रिया में उसके कर्म का आयाम एवं उसके प्रभावात्मक-विचार उस बौद्धिक पुरुषार्थ के भावात्मक आयाम को प्रदर्शित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दयाजी द्वारा कहा गया बौद्धिक पुरुषार्थ जो त्रिविध आयामों के साथ संयुक्त है, को संस्कृती का पुरुषार्थ कहना अनुचित नहीं होगा।

लेख 'वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत की प्रासंगिकता' में अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं उसी के दो प्रमुख बिन्दुओं में प्रथम उस पीडा की ओर संकेत है जिसमें यह माना गया है कि जो चिन्तन होना था वह हो गया। आज शेष कार्य मात्र उसके दोहराव का ही है। इसके विपरीत दयाजी का मन्तव्य है कि हमारी प्राचीन परम्पराओं को बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में लाना होगा। उनके शब्दों में '... और इस तरीके से लाना होगा कि हम लोग तो मानें ही, दूसरे लोग भी मानें, हमें अपने आप को अपनी जीवन्त परम्पराओं से जोडना है जो परम्पराएं पिछली सदी तक हमारे साथ थीं।' द्वितीय बिन्दु, भारतीय दार्शनिक इतिहास लेखन के बारे में उस अध्यास को चित्रित करता है जिसमें यह माना गया है कि अद्वैत वेदान्त ही वास्तव में भारत का प्रमुख दर्शन रहा है। शीर्षक 'भारत की बौद्धिक परम्पराएं और उनका भविष्य' लेख, जो उनके के.के. बिडला फाउन्डेशन, 1995 के विशिष्ट व्याख्यान की द्वितीय कडी है, जिसमें प्रथम व्याख्यान का शीर्षक 'हमारी बौद्धिक परम्पराएं और उनका भविष्य' शीर्षक के नाम से पत्रिका गांधी मार्ग 1998 में प्रकाशित हो चुका है एवं जो प्रस्तुत संग्रह में खंड एक का लेख संख्या 7 है, में लेख के शीर्षक के अनुरूप चर्चा का प्रारम्भ संस्कृति की बौद्धिक परम्परा की समझ से है। दयाजी की दृष्टि में 'मनुष्य' एवं 'संस्कृति' में सादृश्यता दोनों के अनन्त रूप में रूपायित होने की योग्यता में है। दोनों की पहचान ऐसी नहीं है जो प्रवाहविहीन स्थिरता या सार लिये हुये है जिसे हम पकडकर कह सकें कि यही इनका स्वरूप है या यही इनकी अस्मिता है। बिडला फाउन्डेशन के दोनों ही लेखों में

उनका एक समान केन्द्रिय बिन्दु शास्त्र रचना कर्म पर विचार है जो उनकी दृष्टि में किसी भी संस्कृति का प्राण है। वस्तुत: बिडला फाउन्डेशन के व्याख्यानों में पुन:-पुन: यही बात उभर कर आयी है कि किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति का प्राण शास्त्र की रचना है जो न केवल आत्म चेतन बुद्धि की रचना है वरन् उससे संस्कृति के मूल में भी परिवर्तन आता है। उनके विचार में शास्त्र बनते ही संस्कृत-असंस्कृत, शुभ-अशुभ, भेद-अभेद के मानदण्ड एवं औचित्यों की बात तो होती ही है साथ ही वह पूर्व ज्ञान को संग्रहित एवं समन्वित करते हुये नई समस्याओं, पठन-पाठन के भेदों को जन्म देने की परम्पराओं को भी जन्म देती है। दयाजी परम्परा के स्थिर स्वरूप को नकारते हुये कहते हैं, ''हमारे यहाँ यद्यपि आज बहुत लिखा जा रहा है, लेकिन उस परम्परा को आत्मसात करके और विषयिता के रूप में उसे धारण करके उससे अनुप्राणित होकर उसे आगे बढाने की बात नहीं है।'' उनकी दृष्टि में वार्तिककार की भांति अतीत की उपलब्धियों को आगे बढ़ाते, उनका संरक्षण करते हुये भविष्योन्मुखी दृष्टि को रखते हुये ही उनका संवर्धन करना है।

यहाँ अनुभव-ज्ञान, ज्ञान-शास्त्र एवं शास्त्र से जन्य विविध परम्पराओं, यथाँ वैदिक संहिताओं से जन्य शाखा-प्रशाखाओं के भेदों का तदवर्ती ग्रन्थों पर हुए प्रभावों में विचार के क्रमिक विस्तार एवं वर्तमान वैचारिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञान-दर्शन एवं बुद्धि आदि के नवीनतम आयामों के स्वरूप में शास्त्र का लक्षण पुनर्विचार का संकेत देता है। क्या शास्त्र वही है जो भाष्य, वार्तिक, टीका आदि को जन्म दें? क्या शास्त्र आज भी अपरिहार्य हैं वस्तुत: तर्क, गणित एवं विज्ञान के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले नवीन प्रस्थानों का मूल अधिकांशत: किसी लेख में में अभिव्यक्त एक विचार ही प्राय: होता देखा गया है।

द्वितीय खंड भारतीय दार्शनिक चिन्तन से सम्बन्धित लेखों से युक्त है। सामान्य रूप से इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन लेखों में कम से कम एक अर्धशताब्दी या एक सहस्राब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय परम्परा पर उठाये गये आक्षेपों का प्रो. दया कृष्ण जी द्वारा दिया गया युक्ति एवं दृष्टि युक्त व्यवस्थित जवाब तो अतुलनीय है ही, वहीं उनके द्वारा पाश्चात्य दर्शन पर उठाये गये सवाल जितने मौलिक हैं उतने ही भारतीय दर्शन पर पाश्चात्यों द्वारा उठाये गये सवालों के उनके जवाब। इसके साथ ही भारतीय दर्शन के इतिहास लेखन पर उनके द्वारा एक नवीन स्वतन्त्र दृष्टि के वैकल्पिक चित्र की प्रस्तुति इस विषय पर उपलब्ध प्रमुख पुस्तकों पर, जो हरिभद्र सूरि के काल से लेकर 2000 तक प्रस्तुत किये गये भारतीय दर्शन के इतिहास पर है, पुनरावलोकन का आमन्त्रण भी है। भारतीय दर्शन के इतिहास की इस वैकल्पिक चित्र की अभिव्यक्ति प्रो. दयाजी की निम्न पुस्तक श्रृंखला में प्रबुद्ध पाठकगण देख सकते हैं:-

1. Indian Philosophy : A New Approach, Studies in Indian Tradition Series No. 7, Indian Books Centre, New Delhi, 1997

2. New Perspectives in Indian Philosophy, Rawat Publication, Jaipur, 2001

3. Developments in Indian Philosophy from Eighteenth Century Onwards : Classical and Western, Vol. X pt. I, PHISPC, CSC, New Delhi, 2002.

4. Bhartiya Darsana, Eka Nayi Drsti : Rawat Publisher, 2002

5. Discussion and Debate in Indian Philosophy : Issues in Vedanta, Mimamsa and Nyaya. Published in 2004-05, ICPR-2005

6. Indian Philosophy: A counter Perspective, (Revised and Enlarged Edition) Sri Garib Das Oriental Series No. 310, Indian Books Centre, New Delhi, 2006

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दया कृष्ण जी के लेखन में जो भारतीय दर्शन को देखने की नवीन दृष्टि का आग्रह किया है एवं तदनुरूप भारतीय दर्शन की सम्भावनाओं के विस्तार की जो दिशायें बताई हैं एवं प्रश्न उठाये हैं वह आने वाले दशकों में भारतीय दर्शन में रुचि रखने वाले निष्ठावान शोधार्थियों को निरन्तर व्यस्त रखने में एवं उन्हें खोज की नयी दिशाओं में सतत् मार्गदर्शन प्रदान करने में सहायक रहेंगे।

दर्शन को साक्षात्कार का विषय न मानकर दयाकृष्ण जी उसे शुद्ध बौद्धिक विचार के रूप में देखा है। इसी की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति इस खण्ड के प्रथम लेख में होती है। प्रबुद्ध पाठक इस लेख के विषय के विस्तार में दया कृष्णजी के कई लेखों में से निम्न लेखों का संदर्भ विशेष रूप से ले सकते हैं।

1. Three Myths about Indian Philosophy. *Diogenes*, 1966.

2. The Myth of the Purusaratha. *JICPR*-1986.

3. Is Indian Philosophy Theological in character? in *Indian Philosophy : A counter perspective*. IBC-2006.

4. Indian Philosophy and Moksha : Revisiting an old controversy, in *Indian Philosophy : A counter perspective*. IBC-2006.

इसी खंड के अन्य लेखों में जैनों के अनेकान्तवाद, बौद्धों के अनित्यवाद एवं पाश्चात्य भाषा दर्शन के भाषा विश्लेषणवाद को दयाजी ने समान रूप से जहाँ उपचार के रूप में देखने की कोशिश की है वहीं वैदिकों के न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के मूल योगदान को क्रमश: बुद्धि के व्यापार एवं बुद्धि के स्वरूप के केन्द्रीय सम्प्रत्यय के चिन्तन के रूप में देखा है। उनके मत में यदि नागार्जुन, श्रीहर्ष एवं जयराशी की बात सोचें तो यह मानने में कठिनाई होगी कि प्रमाण व्यापार जिसमें

प्रत्यक्ष एवं अनुमान भी सम्मिलित है, क्या कभी सन्देह से मुक्त हो सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि एक तरीके से प्रमाण की परिभाषा, प्रमाण्यता का औचित्य एवं लौकिक प्रमा ज्ञान के स्वरूप की भारतीय प्रमाण मीमांसा में दी गई विवेचना को पाश्चात्य आधुनिक चिन्तन में विवेचित वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप की चर्चा के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में विस्तारित किया जा सकता है। दयाजी द्वारा चिर-परिचित उदाहरणों की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाना एवं प्रत्यक्ष प्रमाण के उदाहरणों के बीच तार्किक भ्रम एवं व्यक्तिगत भ्रम की कोटियों में लाकर इन उदाहरणों के बीच के भेद को लक्षित करना उनकी वैचारिक सृजनता का ही दिग्दर्शन है जिनका अविद्या, भ्रम एवं हेत्वाभासादि की धारणाओं में विस्तार किया जा सकता है। अंत में इस खंड के अन्तिम लेख 'वेदों में वर्ण व्यवस्था' पर किये गये दयाजी के विचारों को पुरुष सूक्तों पर किये गये विभिन्न भाष्यों के प्रकाश में विस्तारित किया जा सकता है। यहाँ उनके अन्य पूर्व प्रकाशित लेख "The Varnasrama Syndrome of Indian Sociology, Contributions to Indian Sociology", Delhi, 1991 को भी देखा जा सकता है।

तृतीय खंड के अधिकांश लेख विशेषकर लेख संख्या 2, 3, 4, 7 तथा 8 पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित विद्यार्थियों की पाठ्यसामग्री से साक्षात् रूप से सम्बन्धित होने से महत्त्वपूर्ण हैं। खंड का प्रथम लेख 'दार्शनिकों के तर्क: न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न शब्द, न उपमान' विचार की नई दिशायें खोलता हुआ न केवल परम्परा में उपलब्ध प्रमाण विचार के चिन्तन की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगाता है वरन मेरी दृष्टि में आज के समय में वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्रों से जन्य ज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं में परम्परागत प्रमाण मीमांसीय चिन्तन की औचित्यता एवं अनुपयुक्तता की सार्थकता पर पुनर्सोच का संकेत भी करता है। खंड का पंचम लेख ''बुद्धिनिष्ठ ज्ञान की पश्चिमी परम्परायें: इतिहास और समस्याएं'' का प्रारम्भ शताब्दियों तक प्रचलित पाश्चात्य चिन्तकों के देश कालातीत सत्य को पकडने की बुद्धि की क्षमता पर प्रश्नचिह्न है। लेख के मध्य में गणित एवं तर्कशास्त्र, जो बुद्धि के ही केन्द्रीय क्षेत्र हैं, में प्रयुक्त प्रमुख विचार यथा 'संख्या' एवं 'वाक्य' के स्वरूप एवं उनसे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण दृष्टियों एवं सरोकारों की बात है तथा ज्ञान के विविध क्षेत्रों की भाषा के स्वरूप वैचित्र्य एवं अर्थ विन्यास यथा काव्य, साहित्य, संगीत एवं आदि से सम्बन्धित गहन एवं गूढ प्रश्नों का अत्यन्त ही सहज रूप से हिन्दी में किया गया सरलतम विवेचन है। खंड के अन्तिम लेख ''परस्पर: युग-बोध, ऐतिहासिकता और आधुनिकता'', जो दयाजी एवं श्री मुकन्द लाठ के बीच संवाद का लिखित रूप है, में विचार में सनातनता के उस पक्ष को संकेतित किया है जो उसे युग-बोध एवं काल बोध से परे ले जाता है वहीं उसे अनुभव, देश-काल से अनिवार्यत: जुडे रहने के कारण उसे वैशिष्ट्य भी प्रदान करता है। वस्तुत: दयाजी दार्शनिक विचार के स्वरूप को सत्यान्वेषी एवं तत्त्वान्वेषी अंशत: मानते हुये भी अनुभव के निकष के आधार पर

उसके औचित्यता एवं प्रामाणिकता की बात करते प्रतीत होते हैं। स्पष्टत: प्रामाण्यता हेतु चेतना या अनुभव का वह स्तर अपेक्षित है जहाँ एक ओर विचार सर्वस्वीकृत कोटियों या पदावलियों की सोच की चौखट को लांघने की क्षमता रखता हो वहीं दूसरी ओर विचार की सनातनता को भी संजोये रखता हो। पूर्व पक्ष खंडन एवं स्व पक्ष मंडन की प्रक्रिया एवं शास्त्रों से उद्धृत अंशों से परिपूरित लेखन विधा से परे यह संवाद रूपी संवादात्मक लेख दार्शनिक लेखन की नई विधि को दर्शाता है। जो इस संवाद रूपी लेख के दूसरे संवादक श्री मुकुन्द लाठ जी के लेखन में भी व्यक्त रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि संवादिता या परस्परता व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज, व्यक्ति-समाज, समाज-राज्य के आयामों तक ही यह सीमित न रहकर ज्ञान की विधाओं में इसके विस्तार की दृष्टि देती है। वस्तुत: तो अन्तर-अनुशासनीयता के विचारों की अनुशंसा की अभिव्यक्ति दयाजी के अन्य कई अन्य आंग्ल लेखों में अभिव्यक्त होती है। उदाहरणत: On the Distinctions between the Natural Sciences, the Social Sciences and the Humanities, International Social Sciences Journal, UNESCO, 1964.

चतुर्थ खंड में संग्रहित लेखों के प्रथम तीन लेखों का विषय 'आओ कुछ सोचें' का प्रमुख उद्देश्य दर्शन एवं दार्शनिक सरोकारों यथा चेतना, मनुष्य, पुरुषार्थ, दर्शन के स्वरूप आदि को स्पर्श करना है। दयाजी के मत में दर्शन का क्षेत्र जगत् या ज्ञान अथवा शक्ति की साधना न होकर शुद्ध बुद्धि का जगत् है जहाँ दार्शनिक किसी मूर्त वस्तु या ज्ञान या समस्या से सम्बन्धित न होकर विचार के विचार को ही दार्शनिक विचार का विषय बनाता है एवं सत्यता को शुद्ध बौद्धिकता की संयुक्तता में देखता है न कि किसी बहिर्गत ध्यान, क्रिया की साधना अथवा किसी बाह्य वस्तु, घटना या वस्तुस्थिति की संवादिता में। उनके विचार में दर्शन की व्यावर्तकता या उसकी संज्ञानात्मक चेतना को किसी वस्तु से तादात्म्यता के भाव में न देखकर बुद्धि को उससे परे जाने की क्षमता में देखे जाने की योग्यता में है। आज के अतिआधुनिकवाद से प्रभावित सापेक्षवादी दृष्टि की प्राधान्यता में शुद्ध सत्य या शुद्ध बौद्धिकता की बात की संगतता को किस प्रकार देखा जाये, यह एक प्रश्न उठता है? ऐसा प्रतीत होता है कि शुद्ध बौद्धिकता का उत्स दयाजी की दृष्टि में बुद्धि की निस्संगतता या शुद्ध बौद्धिक समस्याओं के शुद्ध बौद्धिक समाधानों से जनित रस में है जो ज्ञान की दर्शन विधा के अध्ययन की तात्कालिक फलश्रुति या प्रेरकतत्व भी है। इसी लेख की दूसरी कडी में दयाजी ने मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण को इसकी दृष्टि व शक्ति की संयुक्तता में देखा है जहाँ उनके मत में 'दृष्टि' यह बताती है कि जो है वह ठीक नहीं है, उसे यह नहीं होना चाहिये एवं 'शक्ति' उसे कर्म में प्रेरित करती है। ईश्वर में सर्वज्ञता होने से मनुष्य के इन व्यावर्तक लक्षणों का प्रो. दयाजी के लिए एक अर्थ में अभाव है। कारण कर्म या शक्ति, सम्भावनाओं में ही सार्थकता लिये हैं, एवं पूर्णता के सम्प्रत्य में सम्भावनाओं का अभाव है ही।

इसी खंड के अंत के लेख साहित्य, कला, समाज एवं सामाजिक सत् से सम्बन्धित हैं जो मनुष्य के भाव पक्ष की प्राधान्यता को लिये हैं जिसमें प्रत्येक लेख तत्सम्बन्धित क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण दृष्टि लिये हुये है। विशेषकर दयाजी का लेख ''साहित्य एवं दर्शन'' पिछले एक दशक में पाश्चात्य दार्शनिक सोच में दर्शन के स्वरूप पर आये बदलाव की लहर के परिप्रेक्ष्य में उनकी दार्शनिक दूरदृष्टिता का न केवल अतुलनीय उदाहरण है वरन पाश्चात्य चिन्तन परम्पराओं के भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध वैचारिक सामग्री की प्रचुरता का उदाहरण भी है। दयाजी का लेख ''साहित्य एवं दर्शन'' क्रमशः भाव एवं बुद्धि की द्वैतता तो दर्शाता ही है वहीं भाव एवं बुद्धि अथवा साहित्य एवं दर्शन की परस्परापेक्षिता का भी संकेत देता है इस सम्भावना की अभिव्यक्ति उनके द्वारा दर्शन में अलंकार शास्त्र की सम्भावना की बात को उठाने में व्यक्त होती है।

कला से सम्बन्धित लेखों में जहाँ कल्पना का स्वरूप, सत्यता का अर्थ, कलाओं में अनुभूत सत् का चित्रण, रूपान्तरण एवं अतिक्राम्यता की बात के साथ ही उससे सम्बन्धित ज्ञान के क्षेत्रों के सम्प्रत्ययात्मक वैशिष्ट्य को बताता है वहीं कला के प्रति एक सर्वग्राही दृष्टि भी लिये हुए है जहाँ कला से उनका अभिप्राय मात्र ललित कला या साहित्य नहीं है वरन सृजन मात्र की प्रक्रिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृजन की चेतना ही ज्ञान की विविध शाखाओं के बीच के अन्तर्विरोधों की समन्वयात्मकता का मूल आधार है जो समस्त ज्ञानात्मक व्यापारों का सामान्य आधार होने से ज्ञान की विधाओं की न केवल आधारगत बुनियादी एकता को बताती है वरन 'एकम सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' की मेरी दृष्टि में लौकिक व्याख्या को चरितार्थ करते हुये इन विषयों से सम्बन्धित इन विविध वैचारिक आयामों की स्वायत्तता के साथ इनकी पृथक ज्ञानात्मक औचित्यतता को भी बताती है।

इस खण्ड के इन लेखों में अभिव्यक्त दयाजी के विचारों ने विचार के परम्परागत प्रवाह को नया मोड प्रदान किया है। यथा उनका पूर्व प्रकाशित आंग्ल लेख Arts and the Cognitive Enterprise of Man, *The Vishva Bharati* Quarterly, Vol. 41, Nos. 1-4, 1975-76 एवं संग्रहित सामाजिक सत् से सम्बन्धित लेख पूर्व प्रकाशित आंग्ल लेख 'The Self-fulfilling Prophecy and the Nature of Society', American Sociological Review, USA, 1971 का हिन्दी अनुवाद को प्रस्तुत संग्रह में संग्रहित किया गया है। सामाजिक सत से सम्बन्धित लेख में दयाजी ने पाश्चात्य समाजशास्त्री मरर्टन के विचार का विश्लेषण किया है। वस्तुतः वह जिस समाज को दृष्टि में रखता है स्पष्टतः वह प्राचीन वैदिक धर्म/कर्तव्य आधारित समाज का विश्लेषण नहीं है अन्यथा इस समाज के सन्दर्भ में स्वपूरित अथवा आत्मघाती भविष्य कथन की बात करना असम्यक् ही लगता है। यह ठीक है कि जड जगत् अचेतन होने से चेतन की भविष्यवाणी से अप्रभावित है जबकि सामाजिक सत् या समाज विज्ञानों का विषय

विषयी रूप होने से अर्थात् विषय एवं विषयी दोनों के ही चेतन होने से भविष्यवाणी को अनिवार्यतः प्रभावित करते हैं। लेकिन इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि समाज या सामाजिक (मानवीय) सत् जो विवेक युक्त चेतन दृढ संकल्पवान है, अपने सम्यक् निर्णयों से विचलित हो, न केवल पूर्व नियोजित व्यक्तिगत स्वार्थों की फलितार्थता हेतु किये गये असत्य भविष्य कथन से प्रभावित होता दिखाई दे वरन मिथ्या कथनों से प्रभावित समाज के व्यवहार से उन पूर्व कथनों की प्रामाणिकता एवं स्वप्रयोजनों की सफलता की औचित्यता सिद्ध करे, स्वीकार्य नहीं है। सामाजिक सत् से सम्बन्धित दयाजी के विचारों को विस्तार से जानने हेतु विद्यार्थी उनके इस विषय पर कुछ निम्नलिखित चयनित लेखों का सन्दर्भ देख सकते हैं;

1. Social Philosophy: Past and Future, Institute of Advanced Study, Shimla, 1969,

2. Philosophical Theory and Social Reality, *in Philosophical Theory and Social Reality*, edited by Ravindra Kumar, New Delhi, 1984,

3. The Problematic and Conceptual Structure of Classical Indian Thought about Men, Society and Polity, Oxford University Press, 2000.

खंड का अन्तिम लेख 'क्या गोपियाँ कृष्ण से सचमुच प्रेम करती थीं?' भारतीय परम्परा में भक्ति पुरुषार्थ प्रमुखतः भक्ति के स्वरूप से सम्बन्धित किन्हीं भ्रान्त धारणाओं की अव्यक्त ध्वनि देता है। भक्ति के स्वरूप पर कुछ न कुछ भ्रान्त धारणाएं युगों से चलती आ रही हैं जिनका निष्कासन समय-समय पर जगत् गुरु एवं आचार्यों ने किया है। ब्रह्म के स्वरूप से विष्णु भक्ति एवं विष्णु से कृष्ण भक्ति तथा कृष्ण-राधा भक्ति के विभिन्न सोपान भक्ति परम्परा में रहे हैं। दयाजी का लेख प्रमुखतः प्रथम तीन पर ही केन्द्रित है। फलतः लेख में ब्रह्म सूत्र के शंकर भाष्य, विष्णु पुराण, श्रीमदभागवत गीता आदि ग्रन्थों की ही चर्चा है, चैतन्य चरितामृत, भक्ति शतक एवं राधा त्रयोदशी आदि ग्रन्थों की नहीं जो एक मात्र राधा के उपास्य स्वरूप को ही प्रकाश में लाते है। पूर्ववर्ती तीन वैष्णव आचार्यों (10-14A.D.) ने जहाँ श्रीमदभागवत को न केवल प्रमाण रूप माना वरन भागवत का प्रारम्भ दक्षिण में होने पर भी विष्णु के उपास्य को ही प्राधान्यता दिये जाने के प्रश्न के उत्तर हेतु दिये गये दयाजी के निम्न शब्द, ''शायद उन्हें अंदल (दक्षिण की मीरा) परम्परा का रागात्मक तत्त्व और श्रृंगार रस रास नहीं आया इसलिये उन्होंने उपासना और भक्ति के आलम्बन के रूप में एक ऐसे देवता को चुना जिसका रोमानी भावना से कोई-लेना देना नहीं'' पुनर्सोच का आमंत्रण करते हैं। भक्ति के स्वरूप के साथ रोमानी भावना का प्रयोग भक्ति के मूल स्वरूप को नजरअंदाज करना है। गीत गोविन्द को छोडें 'गोपी गीत' जो भक्ति का श्रेष्ठतम गीत है. रोमानी भावना के विपरीत ब्रह्मरूपी

अखिल आत्मा के विशुद्ध चैतन्य रूपी ज्ञानात्मक स्वरूप को निर्दिष्ट करता है। इस सम्बन्ध में प्रो. दया कृष्ण जी के निम्नलिखित कथन अत्यन्त सारगर्भित हैं, ''यह वात्सल्य और माधुर्य ही है जो अनुभूति के जीवन पर सबसे ज्यादा असर डालते हैं और यही वे चीजें हैं जिनका ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाने की प्रक्रिया में अनुशीलन करना जरूरी है क्योंकि इन भावों के उत्कर्ष के लिए उपयुक्त आलम्बन केवल वही हो सकता है''। पुन: उनके शब्दों में, 'प्रेम एक मानवीय भाव है, जिसे केवल मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही अनुभव किया जा सकता है, लेकिन इसमें एक अन्तर्भूत आदर्श है, जिसे उसके चरम-रूप में पाने का उद्यम समूची भक्ति करती है।' दयाजी के भक्ति सम्बन्धी मत को विस्तार से जानने के लिये प्रबुद्ध पाठक निम्न पुस्तक का अवलोकन कर सकते हैं; Bhakti: A Contemporary Discussion, Philosophical Explorations in the Indian Bhakti Tradition, Edited by Daya krishna, Mukund Lath, Francine Ellison, Krishna, ICPR, New Delhi, 2000.

अन्त में, दर्शन विभाग यू.जी.सी. के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ जिसने प्रकाशन हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करी। विभाग तत्कालीन विभागाध्यक्ष के प्रति आभारी है जिन्होंने इस वित्तीय सहायता को प्राप्त करवाने का प्रयास किया। विभाग प्रो. दया कृष्ण जी का अत्यन्त आभारी है जिन्होंने प्रकाशन की न केवल अनुमति दी वरन पूर्व लिखित एवं प्रकाशित लेखों में सत्किंचित परिवर्तन कर प्रूफ रीडिंग में सहायता करी। दया कृष्णजी ने छात्रों के हितों को ध्यान में रखते हुए मेरे विशेष आग्रह को स्वीकारा एवं खंड तृतीय का लेख 'डेकार्त से डेरीडा तक' प्रकाशन की प्रक्रिया के दौरान ही तैयार करवाया। इस प्रक्रिया में सहायक रहे विभाग के शोध छात्र योगेश्वर शर्मा की आभारी हूँ जिन्होंने न केवल प्रो. दयाजी के लेख 'डेकार्त से डेरीडा तक' का वरन अन्य दो लेखों 'वेद के भ्रान्ति ही भ्रान्ति' एवं 'वेदों में वर्ण व्यवस्था' का भी Dictation लिया एवं सम्पूर्ण पुस्तक की Proof Reading की। मैं श्री डी.डी. माथुर जी की आभारी हूँ जिन्होंने प्रकाशन हेतु दया कृष्ण जी के कुछ पूर्व अप्रकाशित लेखों को प्राप्त करवाया। एवं ऐसे लेखों की सूची प्रारम्भ में प्रदान करवाई। यद्यपि खण्ड चतुर्थ के अनुवादित लेख संख्या में शाब्दिक अनुवाद की ही प्रधानता रखी है फिर भी इस प्रक्रिया में मैं प्रो. भटनागरजी की आभारी हूँ जिन्होंने मेरे द्वारा अनुवादित किये गये लेखों की सम्यकता का अवलोकन किया एवं कहीं-कहीं मरटॅन के लेख कठिन अंशों की भावात्मक अभिव्यक्ति में सहायता की।

प्रारम्भ में वित्तीय सहायता वर्ष 2005-06 के अन्तर्गत इस पुस्तक का प्रथम भाग प्रकाशित करने की योजना थी जिसके द्वितीय भाग का प्रकाशन 2006-07 के अन्तर्गत प्रस्तावित था लेकिन विद्यार्थियों की सुविधा हेतु दोनों भागों के सम्मिलित रूप से प्रकाशन का निर्णय लिया जिससे प्रकाशन प्रक्रिया में विलम्ब हुआ। यह हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक का प्रकाशन अब राज. विश्वविद्यालय की हीरक

जयन्ती वर्ष 1947-2007 वर्ष में होने जा रहा है। वर्ष 2006-07 की विभागीय प्रकाशन की योजना में प्रो. दया कृष्णजी के लेखन, जो विगत दो दशकों से भी अधिक समय में नियमित रूप से जे.आई.सी.पी.आर. के प्रत्येक अंक में एजेण्डा फॉर रिसर्च, फोकस एण्ड नोट्स एण्ड क्वेरीज के शीर्षकों के अन्तर्गत छपे हैं, का पुस्तक रूप में प्रकाशन विभाग के ASIHSS आशीष प्रोग्राम के तहत होने जा रहा है। यदि यू.जी.सी. की प्रकाशन हेतु प्रदत्त वित्तीय सहायता की निरन्तरता रही तो आगामी वर्षों में दयाजी के प्रमुख शेष विषयों पर विचार यथा शिक्षा, मानवाधिकार, मूल्य चिन्तन, तकनीकी, राजनीति, अर्थव्यवस्था, राज्य, रहस्यवादिता एवं काव्य-रसात्मकता आदि पर उनके लेखन की प्रमुख केन्द्रीय दृष्टि को अनुवादित करने के साथ ही उनकी प्रमुख आंग्ल पुस्तकों का सार-संक्षेप हिन्दी या अंग्रेजी में विद्यार्थियों हेतु पुस्तक आकार में एक जगह उपलब्ध कराने का प्रयास रहेगा।

प्रस्तुत लेख संग्रह में संग्रहित पूर्व प्रकाशित लेखों में प्रो. दया कृष्ण जी द्वारा कई लेखों के शीर्षक के परिवर्तन के साथ प्रो. दया कृष्णजी द्वारा कहीं-कहीं विषय वस्तु में भी परिवर्तन किया गया है। जिन पूर्व प्रकाशित लेखों को इस पुस्तक में संग्रहित किया गया है उन निम्नलिखित सम्पादकों एवं पुस्तक प्रकाशनों के प्रति में विभाग की तरफ से आभारी हूँ जिन्होंने अपने यहाँ प्रकाशित लेखों के पुन: प्रकाशन की स्वीकृति दी।

खण्ड–1

1. तीसरी सहस्राब्दि में भारतीय सभ्यता के पुरुषार्थ: रक्षण, पुनर्नवीनीकरण और विकास की नई दिशाएँ, पूर्वग्रह 110, भारत भवन, भोपाल साहित्य अकादमी, नई दिल्ली में प्रस्तुत लिखित व्याख्यान "Indian Civilization Enterprises in the Third Millenium A.D.: Maintenance, Renewal and Development in New Directions" (अनु. रमेश चन्द शाह)

2. बीसवीं शताब्दी का अन्त और इक्कीसवीं शताब्दी का आरम्भ (पूर्वग्रह 106, भारत भवन, भोपाल) पूर्व प्रकाशित लेख का शीर्षक 'अन्त और आरम्भ' में आंशिक परिवर्तन।

3. वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत की प्रासंगिकता (मध्य भारती) अंक अज्ञात।

4. हमारी बौद्धिक परम्परायें और उनका भविष्य (गाँधी मार्ग, वर्ष 43, अंक 6, दिसम्बर 1998)

5. भारत की बौद्धिक परम्परायें और उनका भविष्य (के.के. बिडला फाउन्डेशन, व्याख्यान माला, अक्टूबर, 1995)

खण्ड–2

1. भारतीय दर्शन के तीन सम्प्रत्यय (दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई, 1965)

2. श्रुति की दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक-जैमिनि और बादरायण (उन्मीलन जुलाई, 1990)

3. आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ (उन्मीलन जुलाई, 2001)

4. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्रोत (1) (उन्मीलन जुलाई, 1998 एवं उन्मीलन जनवरी, 1999)

5. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर (2) (उन्मीलन जुलाई, 1999)

6. अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ (उन्मीलन जुलाई, 2002)

7. अनेकान्त: कुछ समस्याएँ (जैन भारती अनेकांत विशेषांक 2004)

8. अभाव, अपोह और अनेकान्त (उन्मीलन जनवरी, 2000)

खण्ड–3

1. दार्शनिकों के तर्क: न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न शब्द, न उपमान (उन्मीलन जनवरी, 2002)

2. पश्चिमी दर्शन के दो परस्पर विरोधी मूल स्रोत: ग्रीस का बुद्धि केन्द्रित चिन्तन और ईसाई धर्म की आस्था केन्द्रित मान्यताएँ (राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1978)

3. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग: एक विहंगम दृष्टि (डेकार्ट से बर्गसां तक) (राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1982)

4. ऐतिहासिक ज्ञान की दार्शनिक समस्याएँ (इतिहास: राज. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, चतुर्थ संस्करण, 1998)

5. परस्पर: युग-बोध, ऐतिहासिकता और आधुनिकता, (बहुवचन त्रैमासिक, वर्ष 2, अंक 2, 2002) पूर्व प्रकाशित लेख का शीर्षक 'परस्पर' में आंशिक परिवर्तन के साथ।

खण्ड–4

1. आओ कुछ नया सोचें (1) (उन्मीलन जुलाई, 1992)
2. आओ कुछ सोचें (2) (उन्मीलन जनवरी, 1995)
3. आओ कुछ और सोचें (3) (उन्मीलन जनवरी, 1996)
4. साहित्य और दर्शन (साहित्यिक पत्रिका शीर्षक एवं अंक अप्राप्य)
5. दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी समस्याएँ (भारतीय दर्शन : नवीन दृष्टि, रावत प्रकाशन, जयपुर 2002)
6. सत्, पुरुषार्थ और शिक्षा (उन्मीलन, जुलाई 2003)

7. भारतीय संस्कृति और कला के कुछ आयाम (कला प्रयोजन, 4, 1996, (एक संगोष्ठी में दिये गये भाषण का अविकल लिखित रूप)

8. कलाएँ एवं मानवीय ज्ञानात्मक विद्याएँ, (अनु. योगेश गुप्ता) (Arts and the Cognitive Enterprise of Man, *The Vishva Bharati Quarterly*, Vol. 41. 1975-76)

9. स्वपूरित भविष्यकथन एवं समाज का स्वरूप, (अनु. योगेश गुप्ता) (The Self-fulfilling Prophecy and the Nature of Society, *American Sociological Review*, USA 1971)

10. क्या गोपियाँ कृष्ण को सचमुच प्रेम करती थीं? भारतीय परम्परा में भक्ति-पुरुषार्थ (अनु. : मदन लाल सोनी) Did the Gopis Really Love Krishna?: Some Reflections on Bhakti as a Purusartha in the Indian Tradition in *New perspectives in Indian Philosophy*. Rawat Publisher, 2001

उम्मीद है कि पुस्तक दर्शन विषय के हिन्दी भाषी स्नातकोत्तर एवं शोध छात्रों के साथ ही अन्य विषयों के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगी। अंत में प्रकाशन की प्रक्रिया के तहत रह गयी त्रुटियों के प्रति मैं स्वयं जिम्मेदार हूँ आशा है प्रबुद्ध पाठकवर्ग उदारमना होगा।

जयपुर
2006

भवदीय

डॉ. (श्रीमती) योगेश गुप्ता
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
एवं
समन्वयक, यू.जी.सी. आशीश प्रोग्राम
(ASIHSS Programme in Philosophy)
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-302004

अनुक्रमणिका

(खण्ड 1)

1. तीसरी सहस्राब्दी में भारतीय सभ्यता के पुरुषार्थ : रक्षण, पुनर्नवीनीकरण और विकास की नई दिशाएँ 1
2. बीसवीं शताब्दी का अन्त और इक्कीसवीं शताब्दी का आरम्भ 15
3. भारतीय संस्कृति, दर्शन और पुरुषार्थ-चिंतन 27
4. वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत की प्रासंगिकता 37
5. हमारी बौद्धिक परम्पराएँ और उनका भविष्य 46
6. भारत की बौद्धिक परम्पराएं और उनका भविष्य 59

(खण्ड 2)

7. भारतीय दर्शन के तीन संप्रत्यय 77
8. श्रुति की दो परस्पर विरोधी परम्पराओं के मूल प्रवर्तक: जैमिनि और बादरायण 92
9. आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ 100
10. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्रोत (1) 113
11. भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर (2) 147
12. अद्वैत वेदान्त की भेद-अभेद सम्बन्धी कुछ समस्याएँ 158
13. कर्म की चर्चा : नयी, पुरानी और उनसे भी अलग कुछ और 173
14. अनेकान्त : कुछ समस्याएँ 181

15. अभाव, अपोह और अनेकान्त 188
16. वेद के विषय में भ्रांति ही भ्रांति 196
17. भारतीय दर्शन में 'दार्शनिक चर्चा' का स्वरूप: बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जनक के यज्ञ में आये ऋषियों से संवाद 201
18. वेद और वर्ण-व्यवस्था 213

(खण्ड 3)

19. दार्शनिकों के तर्क : न प्रत्यक्ष, न अनुमान, न शब्द, न उपमान 219
20. पश्चिमी दर्शन के दो परस्पर विरोधी मूल स्रोत : ग्रीस का बुद्धि केन्द्रित चिन्तन और ईसाई धर्म की आस्था केन्द्रित मान्यताएँ 233
21. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग : एक विहंगम दृष्टि (डेकार्ट से बर्गसाँ तक) 249
22. डेकार्ट से डेरिडा तक 269
23. बुद्धिनिष्ठ ज्ञान की पश्चिमी परम्पराएँ : इतिहास और समस्याएँ 315
24. जोड़, घटाना, गुणा, भाग : अन्तहीन प्रक्रियाओं से अनन्त की प्राप्ति और उसकी समस्याएँ 329
25. कांट के दर्शन की कुछ समस्याएँ 342
26. कांट का कोटि-सम्बन्धी विचार : कुछ समस्याएँ 348
27. ऐतिहासिक-ज्ञान की दार्शनिक समस्याएँ 370
28. ज़िन्दगी या ज़िन्दगी का फ़लसफ़ा 374
29. परस्पर : युगबोध, ऐतिहासिकता और आधुनिकता 379

(खण्ड 4)

30. आओ कुछ नया सोचें (1) 404
31. आओ कुछ सोचें (2) 414
32. आओ कुछ और सोचें (3) 425
33. किसको मानें, किसको न मानें : दार्शनिक चिन्तन की मूल समस्या 436
34. दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी समस्याएँ 451
35. चेतना, उपाय-कौशल और औचित्य विचार 461
36. सत्, पुरुषार्थ और शिक्षा 468
37. साहित्य और दर्शन 473
38. भारतीय संस्कृति और कला के कुछ आशय 493
39. कलाएँ एवं मानवीय ज्ञानात्मक विधाएँ 503
40. स्वपूरित भविष्य कथन एवं समाज का स्वरूप 511
41. क्या गोपियाँ कृष्ण को सचमुच प्रेम करती थीं? भारतीय परम्परा में भक्ति पुरुषार्थ 519